अरब जगत में जन विद्रोह

इस साल की बिलकुल शुरुआत से ही अरब दुनिया में जन विद्रोहों की आंधी ने न केवल स्थानीय शासकों बल्कि साम्राज्यवादियों की भी नींद उड़ा रखी है। ट्यूनीशिया के छोटे से कस्बे सिदी बौजिद से शुरू हुआ यह जन विद्रोह अब अरब जगत की सीमाओं को लांघ कर दक्षिणी यूरोप तक पहुंचने लगा है। मिश्र और ट्यूनीशिया के तानाशाह राष्ट्रपति, जा लम्बे समय से सत्ता पर काबिज थे, गद्दी छोड़कर भाग गये हैं और कई अन्य के सिंहासन डोल रहे हैं।

अभी एक दशक पहले तक साम्राज्यवादी और पिछड़े देशों के पूंजीवादी शासक यह कह कर जश्न मना रहे थे कि उनकी व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं है। उन्होंने जन विद्रोहों और क्रांतियों को बीते जमाने की चीज बता दिया था। उनका प्रचार इतना जबर्दस्त था कि बहुत सारे वामपंथी और कम्युनिस्ट क्रांतिकारी भी हतोत्साहित हो चले थे। इन स्थितियों के दबाव में कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन में दक्षिणपंथी सुधारवादी प्रवृत्तियां अधिकाधिक मुखर हो रही थीं।

अब अरब जगत के जन विद्रोह ने एक बार फिर जनता की ताकत को शत्रुओं और मित्रों के सामने रेखांकित कर दिया है। अपने जीवन के असहनीय हालात से पैदा हुआ यह जन विद्रोह स्थानीय शासकों को पीछे धकेल रहा है। यह साम्राज्यवादियों के सामने भी बड़ी चुनौती पेश कर रहा है। दूसरी ओर प्रतिक्रियावादी स्थानीय शासक और साम्राज्यवादी दोनों इस जन विद्रोह से निपटने की हर चन्द कोशिश कर रहे हैं। यही नहीं, साम्राज्यवादी तो इस संकट को अवसर के रूप में इस्तेमाल भी कर रहे हैं।

इस लेख में अरब जगत के हालात और उसमें जन विद्रोहों की गतिकी को समझने की कोशिश की जायेगी।

I जन विद्रोहों की जमीन

अरब जगत के इन जन विद्रोहों की शुरुआत एक बेहद मामूली घटना से हुयी। ट्यूनीशिया के सिदी बौजिद कस्बे में मोहम्मद बौजीजी नामक एक बेरोजगार नौजवान के सब्जी–फल के ठेले को एक महिला पुलिस कांस्टेबल ने इस बिना पर जब्त कर लिया कि उसके पास इसका लाइसेंस नहीं था। इस दौरान इस कांस्टेबल ने बौजीजी को एक थप्पड़ भी जड़ दिया। इस घटना से बौजीजी इतना आहत हुआ कि उसने आत्मदाह कर लिया। यह घटना **17** दिसम्बर **2010** की है। कई दिन तक मौत से जूझने के बाद अंत में बौजीजी ने **4** जनवरी को अस्पताल में दम तोड़ दिया। उसकी मृत्यु के बाद, उसके पहले जो विरोध प्रदर्शन शुरू हुए थे उन्होंने अब देश भर में जन विद्रोह का रूप धारण कर लिया। इसके परिणाम स्वरूप तानाशाह राष्ट्रपति अबीदीन बेन अली सत्ता छोड़कर भाग खड़ा हुआ। उसे सऊदी अरब के धुर प्रतिक्रियावादी शासकों ने शरण दी। ट्यूनीशिया के जन विद्रोह की सफलता के बाद **25** जनवरी से मिश्र में भी जन विद्रोह शुरू हो गया और उसके बाद, जैसे कि कहा जाता है, बाकी सब इतिहास बन गया।

जिस घटना ने इस जन विद्रोह के लिए 'ट्रिगर' का काम किया वह अपने आप में लाक्षणिक है। मोहम्मद बौजीजी एक पढ़ा–लिखा बेरोजगार नवयुवक था। वह रोजगार न मिलने पर सब्जी और फल का ठेला लगाकर अपने परिवार का भरण–पोषण कर रहा था। यह वह पेशा है जिसे आज अनौपचारिक क्षेत्र कहा जाता है और जिसमें पिछड़े पूंजीवादी देशों की भारी आबादी लगी हुयी है। यह वास्तव में छिपी हुयी बेरोजगारी है। बेरोजगार बौजीजी को अपने ठेले के जरिये निहायत निम्न स्तर की जीविका भी चलाने की अनुमति राज्य मशीनरी नहीं दे रही थी या उससे 'हफ्रता वसूली' की जा रही थी। अपने प्रति इस अन्याय का प्रतिरोध करने का बौजीजी के पास कोई रास्ता नहीं था और उसने आत्मदाह का रास्ता चुना। यहां यह गौरतलब है कि बौजीजी के आत्मदाह के बाद कई अरब देशों में दर्जनों लोगों ने आत्मदाह किया। यह विरोध प्रदर्शन का हताशापूर्ण तरीका था।

ट्यूनीशिया के व्यापक हालात पर नजर डालने से स्थिति और ज्यादा साफ हो जाती है। ट्यूनीशिया में बेरोजगारी आधिकारिक तौर पर **14** प्रतिशत है। यह अपेक्षाकृत पढ़े–लिखे लोगों का देश है जहां करीब **30** प्रतिशत लोग इंटरनेट से जुड़े हैं। यहां कहा जाता है कि देश की दौलत का करीब एक चौथाई बेन अली के परिवार के पास है। बेन अली के सत्तारूढ़ होने के बाद जो निजीकरण–उदारीकरण और वैश्वीकरण की नीतियां अपनाई गईं उसने एक ओर इस भयंकर लूट को जन्म दिया तो दूसरी ओर मजदूर–मेहनतकश जनता में बेरोजगारी और गरीबी को। (अरब के कुछ प्रमुख देशों में बेरोजगारी की दर इस प्रकार है : सीरिया–**8.3** प्रतिशत, मिश्र–**9.7,** मोरक्को–**9.8,** अल्जीरिया–**9.9,** जार्डन–**13.4,** ट्यूनीशिया–**14.0,** बहरीन–**15.0,** ओमान–**15.0,** लीबिया–**30.0,** यमन–**35.0**)

ट्यूनीशिया में सूक्ष्म और वृहद दोनो स्तरों पर जो तस्वीर उभरती है वह वैश्विक उदारीकरण के दौर में मजदूर–मेहनतकश जनता की भयंकर तबाही और स्थानीय पूंजीपति वर्ग द्वारा बेतहाशा लूट की तस्वीर है। इस लूट का एक हिस्सा साम्राज्यवादी ले जा रहे हैं जो स्थानीय तानाशाहों के पीछे दृढ़तापूर्वक खड़े हैं क्योंकि ये तानाशाहियां इस लूट को सुगम बना रही हैं। लेकिन यह लूट और मजदूर–मेहनतकश जनता की तबाही ऐसी स्थितियों को पैदा कर रही है जिसमें निरंतर जमा होता हुआ भयंकर असंतोष पुलिस की एक सिपाही के थप्पड़ से फूट पड़ता है और दशकों से जमे हुए तानाशाहों को पत्तों की तरह उड़ा ले जाता है।

मजदूर–मेहनतकश जनता की जिन्दगी को तबाह करने वाली उदारीकरण की ये नीतियां समूचे अरब जगत में (बाकी दुनिया की तरह) पिछले दो–तीन दशकों में लागू हुयी हैं। ये अलग–अलग देशों में अलग समय पर लागू हुई हैं लेकिन सबकी गति एक समान रही है–पूंजीपति वर्ग की पूंजी को बढ़ाना, मजदूर–मेहनतकशों की जिन्दगी के स्तर को गिराना। चूंकि इन नीतियों को लागू करने वाले शासक निरंकुश हैं (चाहे वे राष्ट्रपति हों, शेख–अमीर हों या राजा) और लम्बे समय से सत्ता में काबिज हैं इसीलिए तबाहहाल जनता का गुस्सा सबसे पहले इन्ही के खिलाफ फूटा और इसने अपनी शुरुआती मांग के तौर पर जनतंत्र की बहाली तथा मजदूर–मेहनतकश जनता की जिन्दगी में बेहतरी को पेश किया।

अरब जगत में शासक पूंजीपति वर्ग मूलतः दो तरह का है। एक उन देशों का पूंजीपति वर्ग है जो पिछड़े पूंजीवादी देश हैं और कृषि, उद्योग या सेवा क्षेत्र पर निर्भर हैं। मिश्र, ट्यूनीशिया और यमन जैसे देश इसी श्रेणी में आते हैं। दूसरी तरह उन देशों का पूंजीपति वर्ग है जो तेल और गैस के प्राकृतिक संसाधन से सम्पन्न हैं। फारस की खाड़ी के देश और लीबिया जैसे देश इस श्रेणी में आते हैं। सीरिया जैसे देशों में स्थिति बीच–बीच की है।

कृषि, उद्योग और सेवा क्षेत्र पर निर्भर पिछड़े पूंजीवादी देशों में, अन्य पिछड़े पूंजीवादी देशों की तरह एक बड़ा एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग इन देशों में राज कर रहा है जो संख्या में थोड़ा है लेकिन जो देश की ज्यादातर सम्पत्ति का मालिक है। उदारीकरण के दौर

में यह पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवादियों से एकाकार हुआ है और दोनों ने मिलकर स्थानीय मजदूर–मेहनतकश जनता को लूटा है। मिश्र में होस्नी मुबारक की सैनिक और गैर सैनिक नौकरशाही के ऊपरी हिस्से इसी वर्ग से आते हैं और इसी की सेवा करते हैं। मुस्लिम ब्रदरहुड का नेतृत्व भी इसी वर्ग से आता है। ट्यूनीशिया और यमन में भी यही है।

तेल और गैस की प्राकृतिक संपदा से संपन्न देशों में स्थिति भिन्न है। इसमें देश की आय का मुख्य स्रोत ये प्राकृतिक संसाधन हैं। अन्य तरह के उद्यम अर्थव्यवस्था में बहुत कम महत्व रखते हैं। तेल और गैस की बिक्री से होने वाली आय से इन देशों में एक अति सम्पन्न किरायाजीवी पूंजीपति वर्ग फल–फूल रहा है। यह पूर्णतया परजीवी है। तेल और गैस का उत्पादन या तो सार्वजनिक कम्पनियों द्वारा होता है या फिर साम्राज्यवादी कंपनियों द्वारा। इन देशों के शासकों को बस इतना करना होता है कि तेल और गैस की बिक्री से होने वाली आय को हड़पें और एक अति पतित परजीवी जीवन व्यतीत करें। तथाकथित इस्लामी जीवन शैली के परदे की आड़ में वे पश्चिमी पतित जीवन शैली के कीचड़ में लोट लगाते हैं।

यह किरायाजीवी पूंजीपति वर्ग पतित होने के साथ निरंकुश भी है। यह जनता को दबा कर रखता है और उन्हें विद्रोह करने से रोकने के लिए उसके सामने तेल और गैस से होने वाली आय का एक हिस्सा जूठन की तरह परोसता है। इसी का परिणाम होता है कि इन देशों में मेहनत का काम स्थानीय आबादी के लोग कम पसन्द करते हैं और इन्हें करने के लिए भारी संख्या में मजदूर अन्य अरब देशों तथा दक्षिणी एशिया से आते हैं। बहरीन की **13** लाख की आबादी में आधी आबादी बाहरी है। लीबिया में जिन अश्वेत लोगों को साम्राज्यवादी प्रचारतंत्र ने गद्दाफी के भाड़े के हत्यारे बताया था वे वास्तव में अन्य अफ्रीकी देशों के मजदूर थे जो वहां काम करने आये थे। यहां यह गौरतलब है कि अरब देशों के तेल गैस समृद्ध देशों में स्थानीय आबादी की भारी बेरोजगारी और वहां बाहर से मजदूरों का आना दोनों एक साथ विद्यमान हैं। यही परिघटना यूरोप के देशों में भी है। इसका सीधा सा कारण है कि स्थानीय आबादी उन घटिया स्थितियों में और उस निम्न मजदूरी पर काम करने को तैयार नहीं है जिस पर बाहर से आने वाले आप्रवासी मजदूर तैयार हो जाते हैं। वैश्वीकरण के कुछ परिणामों में से एक यह भी है जिसका मतलब है आप्रवासी मजदूरों का भयंकर शोषण,स्थानीय आबादी की बेरोजगारी तथा देशी–विदेशी पूंजी के मुनाफे में बेतहाशा वृद्वि।

दुनिया के बाकी पिछड़े मुल्कों की तरह अरब देशों में भी आबादी का बड़ा हिस्सा अनौपचारिक क्षेत्र में किसी तरह जिन्दा रहने के लिए संघर्षरत है। तेल और गैस से रहित देशों में आबादी का यह हिस्सा काफी बड़ा है। उदारीकरण के पिछले दो–तीन दशकों में यह बहुत तेजी से बढ़ा भी है। यह हिस्सा मूलतः बेरोजगार है और किसी तरह गुजर–बसर कर रहा है। इसमें पढ़े–लिखे लोगों से लेकर अनपढ़ तक सब शामिल हैं।

जहां तक मजदूर वर्ग की बात है, अर्थव्यवस्था की बनावट के हिसाब से ही मजदूर वर्ग की स्थिति भी समाज में निर्धारित हो रही है। किरायाजीवी देशों में यदि स्थानीय मजदूर वर्ग का एक बड़ा हिस्सा बेरोजगारी का सामना कर रहा है तो यहां बहुत बड़ी संख्या में आप्रवासी मजदूर भी हैं। इसे बहरीन से समझा जा सकता है जहां की आधी आबादी बाहरी है। आप्रवासी मजदूरों की यह मौजूदगी वहां एक भिन्न तरह के अंतर्विरोधों को भी जन्म दे रही है जैसा कि लीबिया में देखने को मिला जहां अश्वेत मजदूरों को निशाना बनाया गया। अन्य तरह के देशों में कृषि, उद्योग और सेवा क्षेत्र में भारी मात्रा में मजदूर हैं। वस्तुतः ये आबादी में सबसे निर्णायक शक्ति हैं और मिश्र तथा ट्यूनीशिया दोनों में उन्होंने अपनी निर्णायक शक्ति का प्रदर्शन भी किया।

इन देशों में जहां कही किसान मौजूद हैं वे तेजी से तबाह हो रहे हैं और उस क्षेत्र में जा रहे हैं जिसे पूंजीपति वर्ग अनौपचारिक क्षेत्र कहता है।

कुछ चुनिंदा अरब देशों में अर्थव्यवस्था की बनावट इस प्रकार है :

तालिका

सकल घरेलू उत्पाद और रोजगार की क्षेत्रीय संरचना (प्रतिशत)

देश	सकल घरेलू उत्पाद			रोजगार		
	कृषि	उद्योग	सेवा	कृषि	उद्योग	सेवा
अल्जीरिया	8.3	61.5	30.2	14.0	13.4	72.6
बहरीन	0.5	56.6	42.9	1.0	79.0	20.0
मिश्र	13.5	37.9	48.0	32.0	17.0	51.0
लीबिया	2.6	63.8	33.6	17.0	23.0	59.0
सऊदी अरब	2.7	61.9	35.4	6.7	21.4	71.9
सीरिया	17.6	26.8	56.6	17.0	16.0	67.0
ट्यूनीशिया	106.0	34.6	54.8	18.3	31.9	49.8
यू.ए.ई.	0.9	51.5	47.6	7.0	15.0	78.0
यमन	8.2	38.8	53	---	---	---

स्त्रोत : CIA fact book

कुछ देशों में यदि उद्योग का हिस्सा बहुत ज्यादा दिख रहा है तो यह मूलतः तेल–गैस उद्योग के कारण है। इनसे इतर इन देशों में उद्योग बेहद मामूली हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है, इस आर्थिक आधार पर इन देशों की राजनीतिक अधिरचना एकदम निरंकुश है। इस निरंकुशता के रूप अलग–अलग हैं। फारस की खाड़ी के देशों में शेखशाहियां और अमरीयत हैं। जार्डन, बहरीन और मोरक्को जैसे देशों में राजा हैं।

मिश्र,ट्यूनीशिया, सीरिया और यमन में राष्ट्रपति हैं। इनमें से तीसरी श्रेणी में ही नाम मात्र की कोई जनतांत्रिक प्रणाली लागू है। कहने की बात नहीं कि यहां चुनाव फर्जी होते हैं। वास्तविकता में तो राष्ट्रपतियों की तानाशाहियां लागू हैं जिसमें सेना भी कम या ज्यादा मात्रा में भागीदार है। राजाओं या शेखों वाले देशों में तो यह चुनाव का नाटक भी नहीं किया जाता।

शासन प्रणाली में जनतंत्र के अभाव के साथ–साथ इन देशों के सामाजिक ताने–बाने में भी जनवाद का एकदम अभाव है। शेखशाहियों और अमरीयत में औरतों की दोयम दर्जे की स्थिति है। पुरातनपंथी इस्लामी कानूनों को इन देशों पर थोपा गया है। इन सबसे एक बेहद घुटन भरा माहौल इन देशों में विद्यमान है।

ये ज्यादातर निरंकुश शासक चूंकि अपनी रक्षा के लिए साम्राज्यवादियों पर निर्भर हैं और वे इस पूरे क्षेत्र में साम्राज्यवादियों की घृणित कार्रवाइयों में साथ देते हैं। चूंकि इस क्षेत्र की प्राकृतिक संपदा की लूट का एक बड़ा हिस्सा साम्राज्यवादियों की जेब में जाता है, इसलिए साम्राज्यवादी सहज ही मजदूर–मेहनतकश जनता के निशाने पर आ जाते हैं। असल में तो साम्राज्यवादियों के बिना पूरा अरब जगत वह नहीं होता जो आज वह है। इसके इतिहास और वर्तमान को साम्राज्यवादियों ने निश्चित रूप दिया है।

इन स्थितियों में मजदूर–मेहनतकश जनता का विद्रोह सबसे पहले अपने इन निरंकुश और साम्राज्यवाद परस्त शासकों के खिलाफ ही लक्षित हुआ। यह होस्नी मुबारक और बेन अली के खिलाफ लक्षित हुआ। यह स्वतंत्रता और जनवाद की मांग पर केन्द्रित हुआ। विद्रोही जनता को अपनी असहाय स्थितियों का निस्तार निरंकुश शासकों को सत्ता से बेदखल करने और जनवाद की स्थापना में नजर आया। उदारीकरण के दौर में उदारीकृत पूंजीवाद की तबाही से पैदा हुए जन विद्रोह की भी पहली सचेत मांग जनवाद की स्थापना होनी थी क्योंकि इन देशों में पूंजीवादी जनवाद गायब था।

यहां पर गौरतलब है कि ऊपरी तौर पर नजर न आने के बावजूद इन जन विद्रोहों को जन्म देने में वर्तमान विश्व आर्थिक संकट ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आर्थिक संकट ने इन देशों को भी बुरी तरह झकझोरा। अब जब इन देशों में कुछ आर्थिक सुधार दीख भी रहा है तो इसका कोई लाभ तबाह मजदूर–मेहनतकश जनता को नहीं मिल रहा है। यह सारा पूंजीपति वर्ग की जेब में जा रहा है। आर्थिक संकट ने पहले से असहनीय स्थिति को न केवल विस्फोटक बनाया बल्कि उसने इसमें चिंगारी भी लगा दी।

II ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अरब जगत उत्तरी अफ्रीका और पश्चिम एशिया के कुल **22** देशों को मिलाकर बना है। सूदूर अतीत की बात छोड़ दें तो आज अरब जगत की जो भी स्थिति है वह प्रथम विश्व युद्व के बाद के दौर में निर्मित हुयी है।

अरब जगत का ज्यादातर हिस्सा एक लम्बे समय तक अतोमान साम्राज्य का अंग था। उन्नीसवीं सदी में मिश्र और सऊदी अरब जैसे देश अपनी स्वतंत्रता की ओर बढ़े लेकिन वे साम्राज्यवादियों की छत्रछाया से नहीं निकल पाये। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में समूचे अफ्रीका पर कब्जा करने के लिए साम्रज्यवादियों के बीच प्रतिद्वन्द्विता बहुत तेज हो गई। इसी के तहत उत्तरी अफ्रीका पर भी साम्राज्यवादियों ने कब्जा कर लिया।

प्रथम विश्व युद्व के अंत में जब विजेता साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच बंटवारा हुआ तो उसी के तहत पश्चिम एशिया को भी अंग्रेजों और फ्रांसीसियों ने आपस में बांट लिया। अपनी साम्राज्यवादी रणनीति के तहत उन्होंने मनमाने तरीके से देशों और क्षेत्रों का बंटवारा किया और अपने–अपने कब्जे में ले लिया। इन देशों में उन्होंने पुराने शासकों के उत्तराधिकारियों को तलाश कर मनमाने तरीके से उन्हें गद्दी पर बैठा दिया। असल में वे महज साम्राज्यवादियों के पिट्ठू थे।

स्वाभाविक ही था कि इन देशों की जनता अपने देशों पर साम्राज्यवादियों द्वारा कब्जे के खिलाफ उठ खड़ी होती। इराक, फिलीस्तीन और लीबिया इत्यादि में बड़े पैमाने पर जनता के विद्रोह हुए। साम्राज्यवादी इन विद्रोहों के प्रति अत्यन्त बर्बरता से पेश आये। भीषण नरसंहार के बाद ही वह किसी हद तक विद्रोहों को दबा सके। आज साम्राज्यवादी जो इराक, अफगानिस्तान पर बम वर्षा कर रहे हैं, उसकी शुरुआत उन्होंने तभी की थी।

प्रथम विश्व युद्व के बाद इस बांट–बखरे के समय साम्राज्यवादियों के लिए इस इलाके का महत्व ज्यादातर रणनीतिक ही था। पश्चिम एशिया में स्वेज नहर महत्वपूर्ण थी। इसके अलावा पश्चिमी एशिया समूचे एशिया का और उत्तरी अफ्रीका समूचे अफ्रीका का द्वार बनता था।

लेकिन **1930** के दशक में इन देशों में तेल–गैस की उपस्थिति का पता चलने के बाद स्थिति बदलने लगी। जैसे–जैसे इन देशों में मौजूद तेल और गैस के विशाल भंडारों का पता चलता गया वैसे–वैसे इनका साम्राज्यवादियों के लिए महत्व बढ़ता गया। **1950** के दशक की शुरुआत तक तो यह स्पष्ट हो गया था कि तेल और गैस के विशाल भंडारों की वजह से इस इलाके का सारी दुनिया के लिए आर्थिक, राजनीतिक, और सामरिक हर तरीके से केन्द्रीय महत्व है।

इस इलाके में तेल–गैस की खोज और उसके दोहन का काम साम्राज्यवादी कम्पनियों ने शुरू किया था। उन्होंने साम्राज्यवादियों द्वारा ही बैठाये गये पिट्ठू शासकों को इसमें नाम मात्र का हिस्सा दिया। द्वितीय विश्व युद्व की समाप्ति पर जब दुनिया भर में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों ने जोर पकड़ा तो इन देशों में भी साम्राज्यवादी कब्जे के खिलाफ तीखे संघर्ष उठ खड़े हुए। मजबूर होकर साम्राज्यवादियों को इनकी औपचारिक स्वतंत्रता को स्वीकार करना पड़ा। लेकिन वे तेल–गैस पर अपना कब्जा छोड़ने को तैयार नहीं थे।

इसके परिणाम स्वरूप **1950** व **60** के दशक में दो चीजें हुयीं। कई अरब देशों में सैनिक तख्ता पलट कर ऐसी सत्ताएं कायम हुयीं जो देश की स्वतंत्रता, प्राकृतिक संसाधनों पर देश का नियंत्रण और राष्ट्र निर्माण की बात करती थीं। वे ब्रिटिश, फ्रांसीसी व अमेरिकी साम्राज्यवादियों से दूरी और उनके बंधन से मुक्ति का बात करती थीं। वे मेहनतकश जनता को साथ लेने के लिए 'समाजवाद' की बात करती थीं। यह देखते हुए कि इन देशों में कम या ज्यादा मजबूत कम्युनिस्ट पार्टियां मौजूद थीं, वे इसके लिए मजबूर भी थीं। कम्युनिस्ट पार्टियों का दमन और 'समाजवाद' की बात वे दोनों एक साथ ही साथ करती थीं। ये सत्ताएं धर्मनिरपेक्षता और आधुनिकीकरण की बात करती थीं। मिश्र, इराक, सीरिया और लीबिया में इसी तरह की सत्ताएं कायम हुयीं। समाजवाद से नाता तोड़ चुके सोवियत संघ के शासकों की ओर ये मुखातिब हुयीं और उनसे इन्हें सहायता भी मिली। इस तरह वे पश्चिमी साम्राज्यवादियों के सामने टिकने में कामयाब रहीं।

साम्राज्यवादियों ने इस प्रवृत्ति से निपटने के लिए न केवल इन सत्ताओं को ध्वस्त करने के लिए हर संभव प्रयास किया बल्कि उन्होंने इन राष्ट्रवादी सत्ताओं के बरक्स एकदम प्रतिक्रियावादी धार्मिक कट्टरपंथियों को पालना पोसना शुरू किया। यह इन सत्ताओं वाले देश में भी किया गया और अन्य देशों में भी। अपनी साम्राज्यवादी लूट की खातिर उन्होंने जनवाद के अपने प्रचार को ताक पर रख दिया और शेखों, अमीरों और राजाओं के शासन के तहत मध्ययुगीन सामाजिक ताने–बाने को बढ़ावा दिया। इन्होंने खासकर सऊदी अरब को अपना लक्ष्य बनाया जो मक्का और मदीना के कारण समूची दुनिया के मुसलमानों के लिए खास महत्व रखता है। सऊदी शासकों के खास बहावी सम्प्रदाय की कट्टरता को तेल–गैस से होने वाली आमदनी से दूर–दूर तक प्रचारित किया गया। यह सब चरम पर जा पहुंचा जब

1979 में इरान के शाह पल्लवी को वहां की जनता ने विद्रोह कर भगा दिया और अफगानिस्तान में सोवियत संघ ने अपनी सेनाएं उतार दीं। अब एक ओर तो इरान के नये इस्लामी शासन के खिलाफ लड़ने के लिए साम्राज्यवादियों ने अपनी रही–सही हिचक भी छोड़ दी और सीधे धार्मिक कट्टरता को हर तरह से आगे बढ़ाने पर उतर आये, दूसरी ओर अफगानिस्तान में भी सोवियत कब्जे के खिलाफ उन्होंने राष्ट्रवादी विरोध को किनारे लगाकर इस्लामी जिहाद को स्थापित किया।

इन सबके परिणाम स्वरूप एक ओर तो अरब दशों में राष्ट्र निर्माण के प्रयास को गंभीर धक्का लगा, दूसरी ओर समूचा अरब जगत धार्मिक कट्टरता की चपेट में आता चला गया। अरब जगत में राष्ट्र निर्माण का काम जिन देशों में हो रहा था उन पर साम्राज्यवादियों का बेहद दबाव था। इन सत्ताओं को अस्थिर करने और उन्हें उखाड़ फेंकने की साम्राज्यवादी हर चन्द कोशिश कर रहे थे। वैसे भी तीसरी दुनिया के देशों में राष्ट्र निर्माण की कोशिश करने वाला पूंजीपति वर्ग अत्यन्त दुर्बल रहा है। अरब के देशों में भी यही था। यह दुर्बल पूंजीपति वर्ग दोनों साम्राज्यवादी खेमों के बीच के अंतर्विरोधों का इस्तेमाल कर अपना रास्ता निकालना चाहता था लेकिन यह रास्ता बहुत दूर तक नहीं जाता था। इसका सबसे गंभीर प्रयास मिश्र में हुआ जो **1970** के दशक में वहां पहुंच गया जहां अनवर सादात अमरिकी साम्राज्यवादियों की शरण में पहुंच गये।

धार्मिक कट्टरपंथी ताकतें अरब जगत में राजनीतिक तौर पर **1920** के दशक से ही सक्रिय हैं। एक ओर जहां सऊदी अरब का शासन स्थापित ही हुआ बहावी धार्मिक कट्टरपंथियों के सहयोग से वहीं मिश्र में मुस्लिम ब्रदरहुड नामक संगठन **1928** में अस्तित्व में आया। लेकिन एक लम्बे समय तक ये समाज में बहुत प्रभाव नहीं हासिल कर सके। **1940** व **50** के दशक में राष्ट्रीय चेतना के उभार के दौर में मूलतः राष्ट्रवादी, प्रगतिशील और कम्युनिस्ट शक्तियां ही ज्यादा मुखर थीं। अरब देशों की भी स्पष्ट दिशा धर्म निरपेक्षता की ओर, मध्य युगीन मूल्यों से मुक्ति पाकर आधुनिकता की ओर थी। इन देशों में छोटी–बड़ी कम्युनिस्ट पार्टियों का पैदा होना और फलना–पूफलना इसकी सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति थी। लेकिन साम्राज्यवादियों द्वारा भांति–भांति के प्रयासों के फलस्वरूप और इन देशों के राष्ट्रवादी प्रवृत्ति के शासकों द्वारा कम्युनिस्टों के दमन के कारण यह परिणाम निकला कि इन देशों में प्रतिक्रियावादी, धार्मिक कट्टरपंथी शक्तियां क्रमशः बढ़ती गयीं। एक बार इनके काफी मजबूत हो जाने पर साम्राज्यवादियों द्वारा पलट कर इनका हौवा खड़ा करने से इन्हें और भी आगे बढ़ने की जमीन मिली।

बाद के दशकों में जब इन देशों में उदारीकरण की नीतियों ने तबाही ढानी शुरू की, खासकर जब छोटी सम्पत्ति वाले तबाह होने लगे तो आधुनिक पूंजीवाद की इस गति की प्रतिक्रिया स्वरूप धार्मिक पोंगापंथ को और ज्यादा पनपने का मौका मिला। यह आधुनिक पूंजीवाद द्वारा ढाये जा रहे विध्वंस के खिलाफ मध्ययुगीन प्रतिक्रिया थी जिसका कोई दूरगामी भविष्य नहीं था लेकिन यह कुछ समय के लिए समाज को बेहद संगीन हालात की ओर ले जा रहा था।

सोवियत खेमे के विघटित होने के समय तक साम्राज्यवादी अपने मकसद में कामयाब हो चुके थे। अरब देशों में राष्ट्र निर्माण का काम खटाई में पड़ चुका था। ज्यादातर अरब देशों के शासक साम्राज्यवादियों की छत्र–छाया में थे। जो चन्द देश इससे बाहर थे उन्हें 'बुरे राष्ट्रों' की धुरी घोषित कर उन पर हमला किया जाना था। वहां अपने पिट्ठू शासक बैठाये जाने थे।

लेकिन इसके साथ यह भी था कि इस्लामी जिहाद अब एक भस्मासुर भी बन गया था। उसके प्रति दोहरी नीति अपनायी जानी थी। एक ओर तो इस जिहाद से निपटना था दूसरी ओर इसका चुनिंदा इस्तेमाल भी करना था। प्रतिद्वन्द्वियों के यहां इसे बढ़ावा दिया जाना था, अड़ियल देशों में इससे सरकारों को अस्थिर किया जाना था और सबसे बढ़कर इसके नाम पर दुनिया भर में अपनी साम्राज्यवादी गतिविधियों को अंजाम दिया जाना था। कम्युनिज्म के हौव्वे के बाद एक नया हौव्वा गढ़ लिया गया था जो दो दशकों से साम्राज्यवादियों के काम आ रहा है। इसके लिए उन्होंने 'सभ्यताओं के संघर्ष' तक का अपना सिद्वान्त गढ़ डाला।

साम्राज्यवाद परस्त मध्ययुगीन शेख, अमीर और राजा, धर्म निरपेक्ष तानाशाह, औपचारिक जनतंत्र की भी अनुपस्थिति या फर्जी जनतंत्र, समाज में धार्मिक कट्टरता को विभिन्न शक्तियों द्वारा बढ़ावा, शासकों की पतित जीवन शैली, ज्यादातर मजदूर–मेहनतकश आबादी का बदहाली में घुटना, साम्राज्यवादियों द्वारा इस इलाके में मनमर्जी इत्यादि आज अरब जगत की सच्चाई है। पर बिना इस्राइल–फिलीस्तीन की चर्चा के तस्वीर मुकम्मल नहीं होगी।

फिलीस्तीनी इलाके में यहूदियों के लिए एक अलग देश की मांग उन्नीसवीं सदी में ही उठने लगी थी। यहूदी धार्मिक मिथक के अनुसार इस्राइल का यह देश उन्हें ईश्वर ने दिया था। जैसे–जैसे बीसवीं सदी में यूरोप में यहूदियों का उत्पीड़न बढ़ता गया वैसे–वैसे यह मांग और मुखर होती गयी। बीसवीं सदी की शुरुआत से ही कुछ यहूदी फिलीस्तीन जाकर बसने लगे थे। हिटलर की नाजी पार्टी के उभार के बाद यह प्रक्रिया और तेज हो गयी।

हिटलर द्वारा समूचे यूरोप में यहूदियों के कत्लेआम के बाद द्वितीय विश्व युद्व की समाप्ति पर यह आम सहमति बनी कि फिलीस्तीन में यहूदियों के एक अलग देश का निर्माण किया जाय। इसी के लिए **1947** के अंत में संयुक्त राष्ट्र संघ में एक प्रस्ताव पारित कर फिलीस्तीन के दो हिस्से कर दिये गये। इसके एक हिस्से को इस्राइल घोषित कर यहूदियों को दे दिया गया, जबकि दूसरा हिस्सा फिलीस्तीन के रूप में बना रहा।

लेकिन फिलीस्तीन के इस विभाजन को फिलीस्तीन व अरब जगत के लोग स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने न केवल इस्राइल को मान्यता नहीं दी बल्कि इसके खिलाफ संघर्ष छेड़ दिया। नये बने इस्राइल ने न केवल इसका सफलतापूर्वक मुकाबला किया बल्कि उसने अपने इलाके से फिलीस्तीनियों को खदेड़ना और फिलीस्तीन के हिस्सों पर कब्जा करना शुरू कर दिया। सदियों से उत्पीड़ित यहूदी कुछ ही सालों में भयंकर उत्पीड़क बन बैठे और उन्होंने धीमे–धीमे ज्यादातर फिलीस्तीन पर कब्जा कर लिया। अब केवल वेस्ट बैंक और गाजा पट्टी ही फिलीस्तीन के नाम पर बचे हैं और उनके अस्तित्व पर भी खतरा मंडरा रहा है।

इस्राइल के गठन के कुछ समय बाद ही उसे अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने अपनी छत्र छाया में ले लिया और समय के साथ वह अरब जगत में उनका सबसे महत्वपूर्ण एजेन्ट बन बैठा। इस्राइल के जियनवादी शासकों ने भी पूरे इलाके में अपने विस्तारवादी मंसूबों के लिए इसी स्थिति को सबसे अनुकूल समझा। उन्होंने न केवल फिलीस्तीन के इलाकों पर कब्जा किया और उनके बाशिंदों को खदेड़ा बल्कि आस–पास के जार्डन, सीरिया तथा मिश्र के भी कुछ हिस्सों पर कब्जा कर लिया। ऐसा वे केवल साम्राज्यवादियों की शह पर ही कर सकते थे।

साम्राज्यवादियों की मिली–भगत से इस्राइल के जियनवादी शासकों की इन कार्यवाहियों ने अरब जगत में बहुत बड़े असंतोष को जन्म दिया। एक ओर तो अरब देशों के शासक इस्राइल को मान्यता न देकर फिलीस्तीनी जनता के साथ खड़े होने का दिखावा करते रहे दूसरी ओर वे साम्राज्यवादियों के साथ सांठ–गांठ करते रहे। इनके इस दोहरे आचरण से अरब जनता में इन शासकों के खिलाफ भयंकर नफरत पैदा हुयी। धार्मिक कट्टरपंथी ताकतों ने इस नफरत का इस्तेमाल किया और समाज में अपनी पकड़ मजबूत की।

इस तरह इस्राइल के निर्माण, इसके जियनवादी शासकों की करतूतों, फिलीस्तीन के मामले में अरब शासकों और साम्राज्यवादियों के रुख इत्यादि ने अरब जगत में और ज्यादा जटिलताओं को जन्म दिया। लेकिन साथ ही इसने स्थानीय शासकों और साम्राज्यवादियों के प्रति गुस्से को बहुत ज्यादा बढ़ाया भी।

III वर्तमान साम्राज्यवादी समीकरण

मिश्र व ट्यूनिशिया में जनविद्रोह और वहां के साम्राज्यवाद परस्त राष्ट्रपतियों के सत्ता से बेदखल होने से साम्राज्यवादी कुछ समय के लिए हतप्रभ हो गये। वे होस्नी मुबारक और बेन अली के पीछे खड़े थे और उम्मीद कर रहे थे कि थोड़े बहुत विरोध प्रदर्शन के बाद ज्वार थम जायगा। अतीत में ऐसा हो भी चुका था। लेकिन जब मामला आगे बढ़ा तब उन्होंने पैंतरा बदला और इस जुगत में लग गये कि मिश्र और ट्यूनीशिया दोनों जगह उन राष्ट्रपतियों के सिवा और कुछ न बदले। यही नहीं। अरब जगत में जन विद्रोहों के इस संकट को उन्होंने अवसर समझा और इसे लपकने के लिए तैयार हो गये। लीबिया में वे इस दिशा में काफी आगे बढ़ चुके हैं और सीरिया में आगे बढ़ने की तैयारी में हैं।

अरब जगत में विद्रोहों के सिलसिले में साम्राज्यवादी तीन नीतियों पर चल रहे हैं। अपने समर्थक शासकों वाले देश में वे विद्रोह को कुचलने में पूरी मदद दे रहे हैं जैसे बहरीन में। उनकी पहली कोशिश है कि विद्रोह कुचल दिये जायं। इनके कुचले न जाने की स्थिति में वे दूसरी नीति पर चल रहे हैं, वह यह है कि थोड़े बहुत ऊपरी परिवर्तन के साथ और एक–दो व्यक्तियों के बलिदान के द्वारा बाकी सारा कुछ जस का तस बचा लिया जाय। वस्तुतः कोई परिवर्तन न हो। तीसरी नीति उन देशों के संदर्भ में है जो साम्राज्यवादियो के उस तरह पालतू नहीं हैं। इसमें सीरिया, इरान और लीबिया जैसे देश हैं। वहां उनकी कोशिश है कि जन विद्रोहों का इस्तेमाल कर सत्ता परिवर्तन कर दिया जाय और ऐसे लोगों को गद्दी पर बैठाया जाय जो ज्यादा साम्राज्यवाद परस्त और पालतू हों। अपनी इस नीति के तहत साम्राज्यवादियों ने **19** मार्च को लीबिया पर हमला कर दिया और सीरिया पर हमला करने की तैयारी कर रहे हैं।

लीबिया पर साम्राज्यवादियों के इस हमले ने इस इलाके के लिए साम्राज्यवादियों के सारे समीकरणों और उनके आपसी अंतर्विरोधों को उजागर कर दिया।

1969 में राजा इदरीस का तख्ता पलट करने के बाद सत्ता में बैठे कर्नल गद्दाफी ने नासिर के मिश्र को अपना मॉडल बनाया। उन्होंने तेल–गैस का राष्ट्रीयकरण किया और उससे होने वाली आय से अपना विशिष्ट 'समाजवाद' लीबिया में लागू करना शुरू किया। उन्होंने अन्य देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों की मदद भी की। तब मौजूद सोवियत संघ इसमें उनका मददगार साबित हुआ। इसके चलते गद्दाफी साम्राज्यवादियों के कोपभाजन बने और उनकी हत्या के कई प्रयास किये गये।

लेकिन **1990** के दशक में वैश्विक स्थितियां प्रतिकूल होने पर गद्दाफी ने अपना रुख बदलना शुरू किया। तब तक उनके अपने 'समाजवादी' मॉडल के परिणाम भी सामने आ चुके थे। उन्होंने पश्चिमी साम्राज्यवादियों से समझौते कर 'संबंध सामान्य' बनाने की कोशिश की। इसी के तहत उन्होंने अपना परमाणु बम बनाने का प्रयास भी छोड़ दिया। गद्दाफी लचीले बन गये थे लेकिन वे अभी भी शेखों और अमीरों की तरह पालतू नहीं बने थे। यही बात साम्राज्यवादियों को चुभती रहती थी।

कुछ बातें गद्दाफी की थी जो साम्राज्यवादियों को नागवार गुजर रही थीं। इसमें अफ्रीका को साम्राज्यवादियों द्वारा **11** हजार अरब डालर का हर्जाना सबसे छोटी बात थी। ज्यादा बड़ी बात यह थी कि तेल–गैस से होने वाली आय से गद्दाफी एक अलग अफ्रीकी संघ की कोशिश कर रहे थे।

अफ्रीकी संघ की गद्दाफी की परियोजना महत्वाकांक्षी थी। इसके तहत एक अफ्रीकी निवेशक बैंक, एक अफ्रीकी केन्द्रीय बैंक और एक अफ्रीकी मुद्रा कोष बनाया जाना था। इस अफ्रीकी मुद्रा कोष के पास **42** अरब डालर का भंडार होना था। यही नहीं, समूचे अफ्रीका के लिए एक मुद्रा, सोने का दीनार चलाने की भी योजना थी।

गद्दाफी का अपराध केवल यह नहीं था कि लीबिया नेशनल ऑयल कारपोरेशन अभी भी साम्राज्यवादियों के चंगुल से बाहर था। इस कारण लीबिया का तेल–गैस पश्चिमी साम्राज्यवादियों के हाथ में नहीं था बल्कि इसके बदले वह ब्रिक देशों की कंपनियों को तरजीह दे रहा था। गद्दाफी का इससे भी बड़ा गुनाह यह था कि लीबिया का केन्द्रीय बैंक साम्राज्यवादी बैंकों के कब्जे में नहीं था। इस बैंक के पास **144** अरब डालर का सोना है। इसकी **150** अरब डालर की परिसम्पत्तियां विदेशों में हैं जिस पर प्रतिबंध के नाम पर पश्चिमी साम्राज्यवादियों ने कब्जा कर लिया है।

इन सबसे ऊपर गद्दाफी का गुनाह था अफ्रीकी संघ की उनकी परियोजना। अफ्रीका में कुल **53** देश हैं और इसकी आबादी करीब **36** करोड़ है। यह भांति–भांति के प्राकृतिक संसाधनों से सम्पन्न है जिसमें से अभी काफी कुछ का पता लगाया जाना है।

सोलहवीं सदी के गुलामों के व्यापार की बात यदि छोड़ भी दें तो उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से अफ्रीका साम्राज्यवादियों की लूट–मार और बॉट–बखरे का अड्डा रहा है। साम्राज्यवादियों की यह हरकत द्वितीय विश्व युद्व के बाद भी चलती रही जब इसके गुलाम देश एक–एक कर आजाद हो गये। साम्राज्यवादियों ने इन आजाद देशों को ध्वस्त कर दिया और समूचे अफ्रीका को एक तरह से मरघट में तब्दील कर दिया।

अफ्रीका के प्राकृतिक संसाधनों के लिए यह मारकाट अभी भी जारी है। पश्चिमी साम्राज्यवादियों के साथ रूसी साम्राज्यवादी भी इसमें शामिल हैं। अब चीन भी बड़े पैमाने पर इसमें उतर पड़ा है जिससे वह अपने कच्चे माल की जरूरतों को पूरा कर सके। भारतीय शासक भी पीछे नही रहना चाहते।

गद्दाफी की अफ्रीकी संघ की परियोजना इन सबमें बाधा थी। इसका ठीक उलटा मकसद था–साम्राज्यवादियों से अपेक्षाकृत दूरी। यदि अफ्रीका का अपना मुद्रा कोष होता तो साम्राज्यवादियों के चंगुल में कौन फंसने जाता? इसीलिए साम्राज्यवादी इसे किसी भी हालत में स्वीकार नहीं कर सकते थे। गद्दाफी के लीबिया के पास तेल और गैस की बिक्री से इतना संसाधन था कि इस ओर कुछ कदम बढ़ाये जा सकते थे। बेशक इस सबके पीछे गद्दाफी और लीबिया के शासकों के अपने मंसूबे थे।

अफ्रीका के लिए अमेरिकी साम्राज्यवादियों की अलग परियोजना है। इसी के तहत उन्होंने अफ्रीका के लिए अपनी सेनाओं की एक विशेष कमान तैयार की है–अफ्रीकाम। इस अफ्रीकाम के कुल पांच अफ्रीकी देश ही सदस्य नहीं हैं : लीबिया, सूडान, इरीट्रिया, जिम्बाम्बे और आइवरी कोस्ट। इन सभी देशों के बारे में अमेरिकी साम्राज्यवादियों का रुख किसी से छिपा नहीं है।

उत्तरी अफ्रीका के कई देश अरब जगत का हिस्सा हैं। इसमें भूमध्य सागर से लगे सारे देश आते हैं। अतीत में ये देश ज्यादातर फ्रांस के कब्जे में रहे हैं हालांकि एक–दो देशों में इटली ने भी कब्जा जमाया था। फ्रांस परम्परागत तौर पर इसे अपना प्रभाव क्षेत्र मानता रहा है।

इसे ही और पुख्ता करने के लिए सरकोजी के सत्ता में आने के बाद भूमध्य संघ को आगे बढ़ाया गया। इसमें यूरोपीय संघ के देशों के साथ उत्तरी अफ्रीका के देश भी शामिल हैं। गद्दाफी का गुनाह यह था कि उन्होंने इस संघ में शामिल होने से इंकार किया। यह फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों के लिए एकदम नाकाबिले बर्दाश्त था। अब इस बात के पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं कि गद्दाफी को सत्ता से हटाने की योजना **2010** के अंत में पेरिस में बनाई जा चुकी थी। अरब जगत के विद्रोहों की कड़ी के तौर पर लीबिया में भी जन विद्रोह ने

साम्राज्यवादियों को वह मौका दे दिया जिसकी उन्हें तलाश थी। यहां यह गौरतलब है कि लीबिया पर हमले में पहलकदमी नंसीसी साम्राज्यवादियों ने ली थी।

जर्मन साम्राज्यवादी नंसीसियों की इस पहलकदमी से बहुत खुश नहीं थे। उत्तरी अफ्रीका में उनके अपने हित हैं। इसीलिए उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ में लीबिया पर हमले के प्रस्ताव के समय मतदान में भाग नहीं लिया।

अरब जगत में समीकरण और भी हैं। सीरिया में रूसियों का सैनिक अड्डा है। यदि पश्चिमी साम्राज्यवादी सीरिया में सत्ता परिवर्तन कराकर अपनी पिट्ठू सरकार बैठाने में कामयाब हो जाते हैं तो यह रूसी साम्राज्यवादियों के लिए बड़ा झटका होगा। इसके उलट बहरीन में अमेरिकी साम्राज्यवादियों का **5**वां बेड़ा मौजूद है। उस पर **30** हजार सैनिक **हैं**। यहीं उसकी सेना की मध्य कमान (सेन्टकाम) भी है। ऐसे में यदि बहरीन में कोई साम्राज्यवाद विरोधी सरकार आ जाती है तो अमेरिकी साम्राज्यवादियों के लिए बड़ी मुश्किल खड़ी हो जाती। इसीलिए उन्होंने बहरीन में सऊदी अरब और यू ए ई की सेना भिजवाकर वहां विद्रोह को कुचल दिया।

अरब जगत में साम्राज्यवादियों के, खासकर अमेरिकी साम्राज्यवादियों के प्रमुखतः तीन हित हैं : पेट्रोलियम, पेट्रोडालर और हथियार। अरब जगत साम्राज्यवादी देशों के तेल–गैस की जरूरत के एक बड़े हिस्से की आपूर्ति करता है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इन देशों में अपने स्थानीय स्रोतों के क्रमशः चुक जाने के बाद दुनिया में अन्यत्र पाये जाने वाले तेल और गैस के भंडार बहुत जरूरी हो जाते हैं। इन पर अपना प्रभाव जीवन–मरण का सवाल बन जाता है। तेल–गैस के स्रोतों में से आज अरब जगत के देश प्रमुख हैं। यहां यह बात याद रखनी होगी कि इराक पर हमले के समय अमेरिकी साम्राज्यवादियों की योजना बाद में अन्य देशों पर कब्जे की भी थी। इसमें इरान, सीरिया और लीबिया भी थे। केवल इराक में इनकी दुर्गति ने ही इन्हें रोका। अब थोड़ा देर से ही सही, वे लीबिया पर कब्जा करने के लिए उतर पड़े हैं।

साम्राज्यवादियों की अर्थव्यवस्था के लिए पेट्रोलियम से कुछ ही कम महत्वपूर्ण है पेट्रोडालर। तेल और गैस की बिक्री से होने वाली आय का एक बहुत बड़ा हिस्सा वापस साम्राज्यवादी देशों में चला जाता है। पेट्रोडालर का एक हिस्सा ही इन देशों के शासक उपभोग और उत्पादन पर खर्च करते हैं। उसका दूसरा हिस्सा साम्राज्यवादी देशों में निवेश किया जाता है। यह हिस्सा इतना बड़ा है कि यह साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था को लड़खड़ा सकता है। सद्दाम हुसैन का एक गुनाह यह था कि वे डालर के बदले यूरो की ओर मुड़ने की सोच रहे थे। लेकिन इसके पहले **1990** में कुवैत पर कब्जा कर उन्होंने समूचे साम्राज्यवादी वित्तीय तंत्र को ही झकझोर दिया था। तब इसीलिए इराक पर हमला करने को सब आनन–फानन में राजी हो गये थे। इसके मुकाबले **2003** में अमेरिकी व ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को लगभग अकेले ही इराक पर हमला करना पड़ा।

साम्राज्यवादी देशों में सैन्य औद्योगिक प्रतिष्ठान आज केन्द्रीय महत्व रखते हैं। इनके द्वारा पैदा किये जा रहे हथियारों की बिक्री इनकी अर्थव्यवस्था की सेहत और इनके मुनाफे के लिए जरूरी हैं। अरब जगत में इन हथियारों का बड़ा बाजार है। एक ओर साम्राज्यवादी इनके आपसी अंतर्विरोधों तथा इस्राइल के खिलाफ इनके अंतर्विरोधों को भड़काते हैं, दूसरी ओर वे इसका फायदा उठाकर इन्हें बड़े पैमाने पर हथियार बेचते हैं। तेल–गैस समृद्ध देशों में इनकी बिक्री से होने वाले आय का एक हिस्सा इस पर खर्च होता है। जिन देशों में तेल–गैस की आय नहीं है उन देशों की हालत और भी बुरी हो जाती है क्योंकि उन्हें हथियारों पर अन्य जगहों से कटौती कर खर्च करना पड़ता है। सऊदी अरब यदि राजनीतिक तौर पर प्रतिक्रियावाद का गढ़ है तो यह सामरिक तौर भी हथियारों का सबसे बड़ा ग्राहक है।

यदि इतने प्रत्यक्ष अन्याय और साम्राज्यवादियों द्वारा उसकी स्वीकारोक्ति के बावजूद पिछले दशकों में फिलीस्तीन की समस्या हल नहीं हुयी है तो इसीलिए कि साम्राज्यवादियों के ये सारे समीकरण और अंतर्विरोध वहां घनीभूत हो जाते हैं।

IV जन विद्रोह की गतिकी

अरब जगत का यह जन विद्रोह आधुनिक संचार माध्यमों द्वारा पहले पहल मध्यम वर्ग की गोलबंदी से शुरू हुआ। ट्यूनीशिया में मोहम्मद बौजीजी के आत्मदाह की शाम को ही उसके चचेरे भाई ने आत्मदाह की एक वीडिओ क्लिपिंग इंटरनेट पर डाली और उसके माध्यम से विरोध प्रदर्शन के लिए लोगों की गोलबंदी शुरू हुयी। जैसे–जैसे विरोध प्रदर्शन बढ़ता गया वैसे–वैसे इंटरनेट से नहीं जुड़े मजदूर वर्ग की भी इसमें भागीदारी बनने लगी।

मिश्र में भी विरोध प्रदर्शनों की शुरुआत इंटरनेट पर गोलबंदी से शुरू हुयी। ट्यूनीशिया में बेन अली के सत्ता छोड़ने के बाद वहां **25** जनवरी को 'क्रोध का दिन' के लिए इंटरनेट से गोलबंदी की गई। यह गोलबंदी आशातीत रूप से सफल रही जब करीब **70** हजार लोग प्रदर्शन के लिए तहरीर चौक पर जमा हो गये। इसके बाद वहां भी जमीनी स्तर पर गोलबंदी शुरू हो गई।

ट्यूनीशिया में **30** प्रतिशत लोगों की इंटरनेट तक पहुंच के बावजूद यह स्पष्ट है कि यह आबादी के ऊपरी हिस्से तक सीमित है। देश की भारी आबादी, खासकर मजदूर वर्ग एवं अन्य गरीब मेहनतकश जनता तक इसकी पहुंव नहीं है। इसके बावजूद वह जन विद्रोह में निर्णायक तौर पर शामिल हुयी और उसके शामिल होने ने ही सत्तानशीन तानाशाहों के भविष्य का निपटारा किया।

इन जन विद्रोहों में आधुनिक संचार माध्यमों से प्रदर्शन के लिए शुरुआती जन गोलबंदी करने वाले युवक मुख्यतः मध्यम और उच्च मध्यम वर्ग के लोग थे। आबादी के अपेक्षाकृत संपन्न हिस्सों से आने वाले ये नवयुवक/नवयुवतियां इन देशों में गैर जनवादी माहौल में घुटन महसूस कर रहे थे। साथ ही यह भी कि देश के अति भ्रष्ट और भाई–भतीजावाद वाले पूंजीवाद में सत्ता के तंत्र से दूरी वाले नवयुवकों को अपने लिए संभावनाओं के द्वार बंद नजर आ रहे थे। यहां यह भी ध्यान रखना होगा कि भयंकर रूप से बढ़ रही बेरोजगारी ने मध्यम वर्ग के युवकों को भी प्रभावित करना शुरू कर दिया था। ट्यूनीशिया में बेरोजगारी की दर **14** प्रतिशत है।

इन हालात ने मध्यम वर्ग के नवयुवकों को लम्बे समय से काबिज तानाशाहों के खिलाफ सड़क पर उतरने की ओर धकेला। लेकिन यह मान लेना तथ्य से परे होगा कि यह सब अचानक हो गया। इसके पहले भी गोलबंदी का एक लम्बा इतिहास है मिश्र में यह गोल बंदी **2007** से शुरू हुयी जब वहां मजदूरों की एक हड़ताल के समर्थन में **6** अप्रैल के प्रदर्शन ने एक बड़े प्रदर्शन का रूप ले लिया। इसी से **6** अप्रैल नवयुवक आंदोलन का जन्म हुआ। उसके बाद भी समय–समय पर मजदूरों की हड़ताल और विरोध प्रदर्शनों की गोलबंदी होती रही।

आधुनिक संचार माध्यमों के जरिये मध्यम वर्गीय नवयुवकों की गोलबंदी ने जहां जन विद्रोह को शुरू करने का काम किया वहीं उनका वर्गीय चरित्र विद्रोह में आगे सीमाएं बन जायेगा। इन पेटी बुर्जुआ नवयुवकों की मांग वस्तुतः जनवादी दायरे की है। उन्हें पूंजीवादी जनतंत्र चाहिए। जन विद्रोह के आगे बढ़ने पर अभी तक व्यवस्था के साथ ताल–मेल बैठाने वाले पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा भी इसके साथ आ गया। यहां तक कि सत्तातंत्र के कुछ लोग भी उससे टूट कर अलग हो गये।

ये सारे लोग पूंजीवादी जनतंत्र चाहते हैं और यही इनके वर्गीय हित मांग भी करते हैं। मिश्र व ट्यूनीशिया के तानाशाह राष्ट्रपतियों के सत्ताच्युत होने के बाद और सत्ताधारियों द्वारा चुनाव करवाने की घोषणा के बाद इस हिस्से द्वारा यह बात की जाने लगी कि क्रांति पूरी

हो गयी है और अब विरोध प्रदर्शन बन्द कर शांति बहाल की जानी चाहिए। ठीक यही बात सत्ता तंत्र के लोग भी कर रहे थे, वे लोग जो तानाशाह राष्ट्रपतियों की तानाशाही के अभिन्न हिस्से थे और अभी भी मूलतः वही पुरानी सत्ता की मशीनरी चला रहे हैं।

यहां एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। साम्राज्यवादियों ने इन देशों में निरंकुश शासकों के माध्यम से अपनी पकड़ कायम कर रखी है। लेकिन वे साथ ही यह भी जानते हैं कि इन निरंकुश सत्ताओं के खिलाफ इन देशों में भयानक गुस्सा है। इसीलिए उन्होंने अपनी दूसरी सुरक्षा पंक्ति के तौर पर जनतंत्र का प्रचार करने वाली संस्थाओं को लगा रखा है। ये संस्थाएं साम्राज्यवादियों के पैसे से ही इन देशों के असंतुष्ट तत्वों को 'जनतंत्र का प्रशिक्षण' देती हैं। ढेरों देशों में इन्होंने 'रंगीन क्रांतियों' को प्रायोजित किया है। इस तरह के निरंकुश देशों में जब जनता का असंतोष जन विद्रोह तक जा पहुंचता है तो साम्राज्यवादियों द्वारा प्रशिक्षित ये लोग शासन की बागडोर संभालने आ जाते हैं। साम्राज्यवादियों की पकड़ बदस्तूर जारी रहती है।

मिश्र व ट्यूनीशिया में उन्होंने यही करने का प्रयास किया। इन देशों में जन विद्रोह के बाद पूंजीवादी प्रचार तंत्र ने जोर–शोर से प्रसारित करना शुरू किया कि इन देशों में शांतिपूर्ण क्रांति हुयी है। इस सिलसिले में यह भी प्रकाश में आया कि मिश्र के अप्रैल **6** आंदोलन के युवकों को सर्बिया में प्रशिक्षण मिला था, उन लोगों द्वारा जिन्होंने वहां मिलोसेविक को सत्ता से भगाया था। इस सिलसिले में शांतिपूर्ण क्रांति के एक नये मसीहा का नाम भी उछाला गया। लेकिन यह केवल थोड़े दिनों तक ही चला। जैसे ही यमन और बहरीन में शासकों ने हिंसा शुरू की और जैसे ही लीबिया पर साम्राज्यवादियों ने हमला किया, शांतिपूर्ण क्रांति का यह प्रचार हवा हो गया।

लेकिन तब भी उपरोक्त तथ्य यह रेखांकित करता है कि साम्राज्यवादियें ने अपनी दूसरी सुरक्षा पंक्ति के लिए तैयारी कर रखी है। अब तमाम लोग साम्राज्यवादी देशों से लौट रहे हैं और जनतंत्र में भागीदारी की बात कर रहे हैं। ये सारे लोग जन विद्रोहों को यहीं तक सीमित करने के लिए सारा प्रयास करेंगे। इसके लिए वे बड़े दमन तक उतरने में भी नहीं हिचकिचायेंगे। मिश्र व ट्यूनीशिया दोनों जगह इसके प्रयास किये गये हैं।

लेकिन यह स्वाभाविक ही है कि मेहनतकश जनता और खासकर उसमें मजदूर वर्ग जन विद्रोहों को यहीं तक नहीं सीमित करना चाहेगा। जनतंत्र निरंकुशता के मुकाबले अच्छी चीज है और मजदूर वर्ग उसके लिए हमेशा लड़ा है। लेकिन जनतंत्र की स्थापना मात्र से मजदूर वर्ग की मूलभूत समस्या का समाधान नहीं होने वाला। यहां तक कि इससे इस बात की भी गारंटी नहीं होती है कि उदारीकरण की नीतियां पलटी जायेंगी और मजदूर वर्ग की हालत में कुछ सुधार होगा। इसीलिए मजदूर वर्ग जन विद्रोहों को आगे ले जाना चाहेगा।

वास्तव में यह मजदूर वर्ग ही था जिसने विद्रोहों को वास्तविक जुझारू चरित्र प्रदान किया और तानाशाहों को मजबूर किया कि वे सत्ता छोड़ें। ट्यूनीशिया में अधिकाधिक पैमाने पर मजदूर वर्ग की भागीदारी ने बेन अली का सत्ता में टिके रहना असंभव बना दिया। मिश्र में भी जब मजदूर वर्ग ने फरवरी के दूसरे सप्ताह में आम हड़ताल घोषित की तो स्पष्ट हो गया कि अब मुबारक नहीं टिके रह सकते। तीन–चार दिनों में ही मामले का निपटारा हो गया।

सब कुछ के बावजूद आज भी मजदूर उत्पादन के केन्द्र में है और उनके द्वारा काम ठप करने के बाद सत्ता का बहुत दिनों तक टिके रहना असंभव हो जायेगा। जहां पेटी बुर्जुआ युवक आंदोलन को शासक वर्ग लम्बे समय तक झेल सकता है, वहीं मजदूर वर्ग के विद्रोह को या तो कुचल दिया जायेगा या फिर यह शासक वर्ग को झुका देगा।

जैसा कि पहले कहा गया है पूंजीवाद के वर्तमान चरण में केवल जनतंत्र की बहाली मजदूर वर्ग के लिए अभीष्ट नहीं है। उसे अपनी हालत में न्यूनतम सुधार के लिए भी जन विद्रोह को आगे ले जाना होगा। मजदूर वर्ग अपनी सहज चेतना से यह जानता है। इसीलिए वह मिश्र व ट्यूनीशिया दोनों जगह लगातार इस बात के लिए प्रयासरत है कि विद्रोह आगे बढ़े। बेन अली और होस्नी मुबारक के सत्ता छोड़ने के बाद उसने दृढ़ता पूर्वक इस बात का प्रतिरोध किया कि विद्रोह का समापन कर दिया जाय। इसके बदले उसने एक के बाद दूसरे तीखे दबावों से शासकों को मजबूर किया कि पीछे हटें। ट्यूनीशिया में बेन अली द्वारा नियुक्त प्रधानमंत्री की बर्खास्तगी, उसकी पार्टी और उनके समय के ट्रेड यूनियन फेडरेशन को भंग किया जाना, पुराने खुफिया पुलिस के खिलाफ कार्यवाही इत्यादि इनमें से कुछ कदम हैं जिसके लिए शासकों को मजबूर किया गया। इसी तरह मिश्र में होस्नी मुबारक की नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी का भंग किया जाना, आंतरिक सुरक्षा मंत्रलय को बंद करना तथा मुबारक और उनके परिवार के लोगों पर मुकदमें इसमें से कुछ कदम हैं। **27** मई को मिश्र में विशाल प्रदर्शन जन विद्रोह के बने रहने का पुख्ता सबूत है। यह विद्रोह सरकार की चेतावनी तथा मुस्लिम ब्रदरहुड के विरोध के बावजूद सफल रहा।

मजदूर वर्ग अपनी सहज वर्गीय क्रांतिकारी चेतना से इन जन विद्रोहों में आगे बढ़ रहा है। लेकिन यही इसकी सीमा भी है। जन विद्रोहों के जरिये तानाशाहों को भगा देने के लिए विचारधारा से लैस किसी सुगठित मजदूर पार्टी की आवश्यकता नहीं है। पेरिस कम्यून से लेकर रूस की फरवरी क्रांति तक यह बात प्रमाणित है। लेकिन इससे आगे जाने के लिए, एक टिकाऊ मजदूर सत्ता कायम करने के लिए, समाजवाद का निर्माण करने के लिए तथा उसकी शत्रुओं से रक्षा करते हुए कम्युनिज्म की ओर बढ़ने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है। अरब जगत के जन विद्रोहों में ठीक इसी पार्टी का अभाव है।

अरब जगत में यदि आज कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन उस पैमाने पर मौजूद नहीं है जैसे दुनिया के अन्य भागों में तो इसके ऐतिहासिक कारण हैं। इस समय कम या ज्यादा मजबूत कम्युनिस्ट पार्टियों की मौजूदगी की स्थिति से वर्तमान हालात तक पहुंचने की यात्र का वर्णन पहले किया जा चुका है। आज वर्तमान जन विद्रोहों को तेजी से आगे धकेलने में यह अभाव बड़ी भूमिका निभा रहा है।

यहां यह भी दृष्टव्य है कि अरब देशों में जो कम्युनिस्ट समूह मौजूद भी हैं वे सुधारवादी हैं मसलन सीरिया की कम्युनिस्ट पार्टी या लेबनान की कम्युनिस्ट पार्टी। मिश्र की कम्युनिस्ट पार्टी और ट्यूनीशिया की कम्युनिस्ट मजदूर पार्टी का भी हाल कुछ अच्छा नहीं है।

लेकिन जन विद्रोहों ने एक नयी प्रवृत्ति भी पैदा की है और यह लाजिमी भी था। मिश्र में अपने को समाजवादी कहने वाले कई ग्रुप पैदा हुए हैं और वे आपस में संघ भी बना रहे हैं। किसी मजबूत क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी की अनुपस्थिति में भी मुस्लिम ब्रदरहुड लोगों को कम्युनिस्टों के हौवे से डराना चाहता है। यह मजदूर वर्ग और मेहनतकश जनता में कम्युनिस्टों के बढ़ते प्रभाव का प्रमाण है। आज कम्युनिस्ट क्रांतिकारी विचारधारा की पहुंच हर जगह है। विद्रोहों के आगे बढ़ने पर इस विचारधारा के इर्द–गिर्द गोलबंदी पहले से कहीं ज्यादा आसान है वैसे भी विद्रोही समय में सालों का काम महीनों या हफ्रतों में हो जाता है।

लेकिन इस बात को शासक पूंजीपति वर्ग भी अच्छी तरह जानता है। इसीलिए शासक वर्ग इस स्थिति से बचने के लिए हर संभव प्रयास करेगा। अभी तक शासक वर्ग ने पीछे हटने में इंच–इंच पर प्रतिरोध किया है। उससे छोटी सी रियायत छीनने के लिए भी नये जुझारू प्रदर्शनों का आयोजन करना पड़ा है। अभी तक मिश्र व ट्यूनीशिया में भी कुछ भी महत्वपूर्ण बदलाव नहीं हुआ है। यदि वहां मामला यहीं तक सीमित हो जाता है तो ज्यादा से ज्यादा यही होगा कि भारत जैसा जनतंत्र कायम हो जाये।

स्थानीय पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवादियों के साथ मिलकर यथास्थिति बनाये रखने के लिए हर संभव संघर्ष कर रहे हैं। इसी के तहत एक ओर उन्होंने बहरीन में सेना भेजकर विद्रोह को कुचल दिया। यमन में वे तानाशाह सालेह का हर संभव समर्थन कर रहे हैं और लीबिया पर हमला कर रहे हैं।

लीबिया पर हमला कर उन्होंने एक तीर से दो निशाना साधने की कोशिश की है। एक ओर तो वे वहां गद्दाफी को सत्ता से हटाकर ऐसे लोगों को सत्ता में बैठाना चाहते हैं जो ज्यादा साम्राज्यवाद परस्त हों और जो अरब के प्रतिक्रियावादी शासकों के साथ ज्यादा ताल–मेल बनाकर चल सकें। दूसरी ओर वे पूरे अरब जगत के विद्रोह में भयानक दिशा भ्रम पैदा कर देना चाहते हैं। साम्राज्यवादी व अरब के प्रतिक्रियावादी शासक यह जताना चाहते हैं कि वे गद्दाफी के तानाशाही शासन के खिलाफ विद्रोह के समर्थक हैं। इसी विद्रोह को बचाने व उसे सफल बनाने के लिए वे गद्दाफी पर हमला कर रहे हैं। जहां मिश्र व ट्यूनीशिया का जन विद्रोह सीधे उन स्थानीय तानाशाह शासकों के खिलाफ था जिन्हें साम्राज्यवादियों का समर्थन हासिल था तो लीबिया में स्थिति इस तरह सरल नहीं रह गयी है। वहां विद्रोह को साम्राज्यवादियों ने अपने लिए इस्तेमाल कर लिया है। अब वहां कुछ विद्रोही साम्राज्यवादियों के एजेण्ट बन गये हैं तो बाकी साम्राज्यवादियों द्वारा अपने देश पर हमले का विरोध करते हुए गद्दाफी शासन के साथ एकजुट होने लगे हैं। इसी का परिणाम है कि नंस की संशोधनवादी कम्युनिस्ट पार्टी लीबिया पर नंसीसी हमले का समर्थन करती है तो यूनान की संशोधनवादी पार्टी दुनिया की अन्य संशोधनवादी पार्टियों (जिसमें भारत के भाकपा व माकपा भी हैं) के साथ मिलकर इस हमले का विरोधा करती है। साम्राज्यवादी अपनी कुटिल चाल में सफल हैं और वे सीरिया में इसी को दुहराना चाहते हैं।

अरब जगत में बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि सऊदी अरब में क्या होता है। सऊदी अरब, अरब दुनिया में प्रतिक्रियावाद का गढ़ है। आर्थिक तौर पर बाकी देशों के मुकाबले यह मजबूत है। इसके पास तेल–गैस का विशाल भंडार है। यह मक्का–मदीने जैसे पवित्र मुस्लिम स्थलों का मालिक है। इसके प्रतिक्रियावादी बहावी शासक एक लम्बे समय से जमे हुए हैं। इन्होंने साम्राज्यवादियों के साथ ज्यादा सूक्ष्म तरीकें से सांठ–गांठ कर रखा है। इस समय अमेरिकी साम्राज्यवादियों, इस्राइल के जियनवादी शासकों और सऊदी अरब के प्रतिक्रियावादी बहावी शासकों का मजबूत गठबंधन मौजूद है जो इस इलाके की राजनीति को गहराई से प्रभावित कर रहा है। यह याद रखना होगा कि ट्यूनीशिया के बेन अली ने भाग कर वहीं शरण ली है, यमन का सालेह भी वहीं इलाज कराने पहुंचा। यह सऊदी अरब ही था जिसने बहरीन के विद्रोह को कुचलने के लिए वहां सेना भेजी।

अतीत में भी सऊदी अरब प्रगतिशील और कम्युनिस्ट विचारों से उस तरह नहीं प्रभावित हुआ जैसे इराक, सीरिया या मिश्र। इस वजह से यहां प्रतिक्रियावादी विचारों–संस्थाओं की पकड़ और मजबूत है।

वर्तमान अरब जन विद्रोह की आंच सऊदी अरब में पहुंची थी। वहां भी कुछ विरोध प्रदर्शन आयोजित करने की कोशिशें की गईं। कुछ विरोध प्रदर्शन हुए भी। लेकिन सऊदी अरब के प्रतिक्रियावादी शासकों ने इसे दबाने के लिए तुरंत सख्त कदम उठाये। साथ ही जनता की ओर कुछ ठीकरें फेंके गये। शुरुआती सुगबुगाहट के बाद वहां विरोध प्रदर्शन ठप्प हो गये। इस समय सऊदी प्रतिक्रियावादी शासक साम्राज्यवादियों के साथ मिलकर लीबिया, सीरिया और यमन में सक्रिय हैं।

v अरब जन विद्रोह और विश्व

अरब जन विद्रोह में साम्राज्यवादियों, खासकर अमेरिकी साम्राज्यवादियों की ऊपर विस्तार से चर्चा की गई है। लेकिन इन विद्रोहों का केवल यही वैश्विक आयाम नहीं है।

आज की एकीकृत दुनिया में अरब का जन विद्रोह केवल अपने आप तक सीमित नहीं रह सकता। यह तब तो और भी अपने आप तक सीमित नहीं रह सकता जब वह तानाशाहों को भगाकर जनतंत्र कायम करने से आगे जाने लगे।

अभी अरब जगत के तानाशाहों, अमीरों–शेखों और राजाओं के साथ साम्राज्यवादियों के जो संबंध हैं वही जब इस जन विद्रोह से गड़बड़ा रहे हैं जो साम्राज्यवादी इस तरह बौखला उठे हैं। वे इतने परिवर्तन को भी बर्दाश्त नहीं कर पा रहे हैं। इसी के साथ वे कुछ अन्य देशों में इन विद्रोहों का फायदा उठाकर अपने लिए ज्यादा अनुकूल स्थितियां हासिल कर लेना चाहते हैं। इसके लिए वे एक देश पर हमला कर चुके हैं और दूसरे पर हमला करने की पूरी तैयारी कर रहे हैं।

यदि यह जन विद्रोह आगे बढ़ता है और कम से कम उदारीकरण की नीतियों पर हमला करने की ओर बढ़ता है तो साम्राज्यवादी पूंजी की प्रतिक्रिया अत्यंत हिंसक होगी। साम्राज्यवादी पूंजी ने उदारीकरण–वैश्वीकरण के तहत पूंजी के मुक्त प्रवाह का अपना पूरा ताना–बाना बना रखा है। कुछ देशों का इससे विरत होने का प्रयास इस ताने–बाने में खासी हलचल पैदा करेगा। और जब वे देश तेल–गैस भंडारों के मालिक हों तो खतरा बहुत बढ़ जाता है। ऐसे में जन विद्रोह के इधर का रुख अख्तियार करने पर साम्राज्यवादी उससे कई गुना ज्यादा घृणित कारगुजारियों पर उतर आयेंगे जितना वे इस समय लीबिया या सीरिया में कर रहे हैं।

यदि विद्रोह उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों को उलटने से भी आगे बढ़ता है यानी वह निजी सम्पत्ति की व्यवस्था पर चोट की ओर जाता है तब तो साम्राज्यवादी पूंजी इसे जीवन–मरण की लड़ाई के रूप में लेगी और साम्राज्यवादी किसी भी हद तक जाने से नहीं हिचकेंगे। यदि साम्राज्यवादी केवल प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा करने के लिए देशों को तबाह करने से नहीं चूकते तो यह तो उनके लिए बहुत बड़ी बात होगी।

लेकिन आयाम और भी है। अरब जगत के जन विद्रोह को दो चीजों ने जन्म दिया था : पूजीवादी जनतंत्र का अभाव और उदारीकृत पूंजीवाद द्वारा ढाई गयी तबाही। इसमें से प्रधान चीज दूसरी है हालांकि यह अपने को तात्कालिक तौर पर पहले के लिए संघर्ष के रूप में पेश कर रही है। पूंजीवादी जनतंत्र की बहाली से बहुत जल्दी यह स्पष्ट हो जायेगा कि असली समस्या दूसरी है।

लेकिन यह समस्या तो आज समूचे विश्व की है। समूचे विश्व की मजदूर –मेहनतकश जनता पिछले दो–तीन दशकों से उदारीकृत पूंजीवाद द्वारा ढाई गई तबाही से त्रहि–त्रहि कर रही है। ऊपर से **2008** से शुरू हुए विश्व आर्थिक संकट ने स्थिति को और ज्यादा गंभीर और ज्यादा असहनीय बना दिया है। इस संकट का सारा बोझ मजदूर वर्ग पर डालकर पूंजीपति वर्ग ने रही–सही कसर भी पूरी कर दी है।

ऐसे में इस जन विद्रोह के दुनिया के दूसरे हिस्सों में भी पैफल जाने के लिए पूरी ज्वलनशील सामग्री मौजूद है। यह उत्तर में फैल सकता है जिधर वह दक्षिणी यूरोप के संकटग्रस्त देशों को अपनी चपेट में लेते हुए आयरलैण्ड और आइसलैण्ड तक पहुंच सकता है। तब इंग्लैण्ड और नंस भी नहीं बच पायेंगे। इसकी शुरुआत हो गयी भी लगती है। स्पेन में मई के मध्य से, ग्रीस में मई के अंत से और इटली में जून के शुरुआत से लोग चौक में, तहरीर चौक की तरह जमा होने लगे हैं। पुर्तगाल सहित इन तीन दक्षिणी यूरोपीय देशों में स्थिति सबसे ज्यादा विस्फोटक है।

अरब जगत का जन विद्रोह उत्तर की ओर भी बढ़ सकता है जिधर वह केन्द्रीय एशिया के देशों को लपेटे में लेते हुए रूस और फिर पूर्वी यूरोप तक फैल जाय। वर्तमान आर्थिक संकट से जिन देशों में सबसे ज्यादा तबाही हुयी उनमें से कुछ इसी क्षेत्र में हैं।

यह जन विद्रोह पूरब की ओर भी फैल सकता है और अफगानिस्तान–पाकिस्तान से होते हुए भारत और म्यांमार तक और चीन तक जा सकता है। यहां यह गौरतलब है कि मिश्र में जन विद्रोह के भड़कने के समय इसके प्रभाव में चीन में विद्रोह होने की सबसे ज्यादा

चर्चा थी। वास्तव में पिछले सालों में चीन में छोटे–मोटे अनगनित आंदोलन हुए हैं। म्यांमार कुछ साल पहले धधक उठा था और भारत का हाल सारी दुनिया के सामने है।

अरब विद्रोह के दक्षिण में फैलकर पूरे महाद्वीप को ही अपनी चपेट में ले लेने की भी प्रबल संभावना है। साम्राज्यवादियों और स्थानीय पूंजीपति वर्ग ने वहां जो तबाही मचायी है वह वैसे भी इस महाद्वीप में बहुत भांति–भांति के संघर्षों और विग्रहों को जन्म दिये हुए है।

यदि ये संभावनाएं या इनमें से कुछ अथवा एक भी फलीभूत होती है तो इससे अरब जगत के जन विद्रोहों की स्थिति एकदम बदल जायेगी। तब इनकी गति एकदम तेज हो जायेगी और वे ज्यादा आसानी से प्रतिक्रियावादी शासकों को पीछे धकेल देंगी।

यदि ऐसा नहीं होता है और अरब जगत का यह जन विद्रोह यहीं तक सीमित होकर रह जाता है तो भी इसका इतना तो परिणाम होगा ही कि अरब के प्रतिक्रियावादी शासक इस या उस हद तक जनतांत्रिक सुधार करने पर मजबूर होंगे। अरब जगत के बसंत के शहीदों का बलिदान व्यर्थ नहीं जायेगा।

===